
समुत्कर्ष प्राप्ति की राजविद्या

•

समुत्कर्ष प्राप्ति की राजविद्या

सन् 1757 में अंग्रेज प्लासी की लड़ाई में विजयी हुए और उसी समय इस भारत भूमि में उनके पैर जम गये। अगले सौ वर्षों में उन्होंने सम्पूर्ण भारत को पदाक्रान्त कर डाला। अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए अंग्रेज ने यहां पर इन सौ डेढ़ सौ वर्षों में कैसे कैसे घोर कृत्य किये इसकी जानकारी इतिहास के सामान्य वाचक को भी है। उन्होंने झूठे दस्तावेज बनाये, स्त्रियों पर अत्याचार किये धन लूटा अन्याय से सम्पत्ति का अपहरण किया राज्य हड़प लिये और अनेकानेक निपराध मनुष्यों को मौत के घाट उतारा हत्याएं की। ऐसा एक भी पाप न था जो अंग्रेजों ने न किया हो। फिर भी सन् 1600 ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना के पश्चात् लगातार उनका उत्कर्ष होता गया। केवल हिन्दुस्थान में ही नहीं अपितु अफ्रीका कनेडा अरगस्तान चीन इत्यादि देशों में उनका प्रभुत्व प्रस्थापित हुआ कभी सूर्योस्त न देखने वाले साम्राज्य का वे निर्माण कर सके। उपर्युक्त प्रत्येक देश में उन्होंने भीषण कुकृत्य किये। अफ्रीका और अमरीका में तो उन्होंने अनेक मानव जातियों के वंशो का समूलोच्छेद करने का प्रयास किया। जहां पर ऐसा करना संभव न हो सका वहां उन्होंने शराब, अफीम आदि हानिकर व्यसनों को फैलाया तथा रोग के कीटाणुओं का भी संचार करने से न चूके। अटिल्ला और चंगेज के समान उन्होंने प्रत्यक्ष नरमेध भले ही न किये हों परन्तु ऊपर दी हुई पद्धतियों का अवलम्बन कर उन्होंने उनसे भी कहीं अधिक नर संहार किया है। तथापि वे सदा ही विजयी हुए। धन सम्पन्नता वैभव समृद्धि श्री विजय भूति आदि का सतत उन्हें लाभ ही होता गया। कला विज्ञान साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी प्रगति होती रही। बढ़ाया हुआ पग पीछे हटाने का प्रसंग उन पर कभी नहीं आया।

हिन्दुस्थान पर पाश्चात्यों का आक्रमण सोलहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम पुर्तगाली आये फिर फ्रान्सीसी और डच तथा सबसे अन्त में अंग्रेज आये। इनमें से प्रत्येक आक्रान्ता के समक्ष हम दुर्बल सिद्ध हुए मुंहकी खानी पड़ी। उनके आपसी संघर्ष के कारण ही उनमें से कई असफल हुए हमें उसका यत्किंचित भी श्रेय प्राप्त नहीं है। जिसके साथ भी हम छुटकारा पा सके हैं। इन आक्रान्ताओं में से प्रत्येक के कारनामों अंग्रेजों के समान ही कालिमा और नीचता से परिपूर्ण थे। सभी ने लूट आगजनी अत्याचार बलात्कार और नर मेध का सहारा लिया। पाप पुण्य उचित अनुचित आदि विधि निषेधों को उन्होंने ताक में रख दिया। केवल दानवीय वृत्ति के द्वारा ही उन्होंने राज्य जीते और उन्हें टिकाए रखा। सत्य न्याय अहिंसा नीति धर्म आदि से उनका लवमात्र भी सम्बन्ध न था तो भी वे विजयी हुए तथा उनका उत्कर्ष ही हुआ।

इस अवधि में भारतीयों ने क्या कोई विशेष पाप किये थे। भारत के लगभग प्रत्येक प्रान्त में इस कालखण्ड में अनेक धर्म सम्प्रदाय उदित हुए। इन सम्प्रदायों के सन्तों ने भागवत प्रणीत भक्ति मार्ग का

प्रचार व प्रसार का कार्य चारों ओर सम्पूर्ण वेग से चला रखा था। भजन पूजन कीर्तन नामस्मरण आदि का वे उपदेश करते। सत्य न्याय परोपकार नीति वैराग्य आदि धर्म के मूल तत्वों को जनमानस पर अंकित कर रहे थे। यह उदात्त धर्मोपदेश जनसाधारण तक पहुंच चुका था। इतना ही नहीं संत परम्परा की यह विशेषता थी कि उसके अन्तर्गत धर्मोपदेशकों में से अधिकांश लोग छोटी जातियों में से थे। इन धर्मधुरीणों के लाखों अनुयायी थे। अतः घर घर भगवान नाम का संकीर्तन चालू था। धन लोभ नहीं करना चाहिए पर स्त्री की ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए दास दासी पशु पक्षी आदि सभी पर पुत्रवत् स्नेह करना चाहिए सत्याचरण करना चाहिए अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए इत्यादि नीति वाक्य वे दिन रात सुना करते थे। इस कारण इस देश का जनसाधारण सरल श्रद्धायुक्त सन्मार्गगाती पापभीरु प्रवृत्ति का बन गया था। परन्तु इस कारण से भारत पर आने वाली विपदाएं टली नहीं। स्वतन्त्रता व धन दोनों ही छिन गये। अनेक स्थानों पर स्त्रियों का भी अपहरण को दरिद्रता तथा यातनाओं के नरक में सड़ना पड़ा।

अंग्रेज फ्रांसीसी पुर्तगाली ये सभी पापाचरणी थे अधर्माचारी थे नीति भ्रष्ट हो चुके थे। हमने पुण्य साधन किया धर्म मार्ग का अनुगमन किया नीतिनिष्ठ बने तो भी ऐश्वर्य विजय श्री भूमि विद्या कला स्वतंत्रता तथा साम्राज्य का लाभ उन्हें हुआ और दरिद्रता दुःख अज्ञान परतन्त्रता दास्य ये सब हमारे हिस्से में आये।

ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा ही चित्र हमारे सम्मुख आता है - इसमें जरा भी सन्देह नहीं। परन्तु ऊपर से सत्य प्रतीत होने वाला यह दृश्य क्या वास्तव में सत्य है सचमुच ही क्या अंग्रेजों के हिसाब में किसी भी प्रकार का पुण्य जमा नहीं है क्या उन्होंने न्याय नीति और मनुष्यता को पूरी तरह बहिष्कृत कर रखा था यदि बारीकी से उनके देश के इतिहास का अध्ययन करें तो हमे अपने विचारों में कुछ परिवर्तन करना होगा। हिन्दुस्थान में साम्राज्य प्राप्ति के लिए उन्होंने नृशंप पाप किये पूरी तरह अधर्म का आश्रय लिया तथापि वे एक दूसरे धर्म विशेष के सहारे खड़े थे। उसका उन्होंने दृढ़ सहारा लिया था निष्ठा के साथ उन धर्म तत्वों का वे पालन करते थे जितनी निष्ठा से हम भागवत् धर्म के पालन में लीन थे।

दो तीन सौ साल की इस दीर्घावधि में एक भी अंग्रेज ने अपने देश के प्रति बेईमानी नहीं की। पृथ्वी तल के किसी भी भू भाग में रहने वाले अंग्रेज की दृष्टि सदैव अपनी मातृभूमि पर लगी रहती थी यही उनका धर्म था जिसने स्वजातिबन्धु अथवा स्वदेश से द्रोह कर इस धर्म का परित्याग किया हो। अंग्रेज अनेक देश देशान्तर के निवासियों के सम्पर्क में आये अनेक धर्म सम्प्रदाय व जाति के लोगों से उन्हें व्यवहार करना पड़ा अपनी मातृभूमि से हजारों मील दूर वे भटके उन्होंने अनेकानेक प्रकार का वैभव सौन्दर्य और विलास देखा परन्तु इन चीजों के मोहासक्ति में फंसकर कोई भी अंग्रेज दूसरे अंग्रेज के विरुद्ध लड़ा नहीं। उन्होंने अपनी मातृभूमि इंग्लैण्ड के विरुद्ध गद्दारी नहीं की। भारत के सुल्तानों की सफल चिकित्सा के कारण जब उन्हें पारितोषिक प्राप्त हुए तब भी उनके सम्मुख उनके देश के उत्कर्ष का विचार ही प्रधान था। व्यक्तिगत स्वार्थ उनके विचारों को छू न सका। क्लाइव वारेनहैस्टिंग के आधिपत्य में इतनी बड़ी तथा

शक्तिशाली सेना थी इतली अधिक राजनीतिक शक्ति थी कि वे चाहते तो इंग्लैण्ड से हजारों मील दूर इस भारत में अपना स्वतन्त्र राज्य सहज स्थापित कर सकते थे। मुसलमानों के राज्यकाल में ये रोज की घटनाएं थी। सन् 1346 में महाराष्ट्र के मुसलमान सरदारों ने दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता को उतार फेंका और स्वतंत्र बहमनी राज्य की स्थापना की। पश्चात् वह राज्य पांच टुकड़ों में बंट गया। इसके बाद के कालखण्ड में दक्षिण के निजाम बंगाल के सूबेदार और अवध के नवाबों ने भी इसी नीति को अपनाया। मराठा शासन के उत्तरार्द्ध में यही प्रवृत्ति विद्यमान थी। यक्तिचित शक्ति प्राप्त होते ही नये राज्य की स्थापना करने की प्रवृत्ति ही सर्वत्र दिखाई देती है। इन सरदारों की अपेक्षा हजार गुनी शक्ति अंग्रेज सरदारों के पास थी साथी ही वे अपनी केन्द्रीय सत्ता से हजार मील दूर थे परन्तु स्वतंत्र राज्य की स्थापना का विचार स्वप्न में भी उनके मन में नहीं आया। कला यह धर्माचरण नहीं है क्या वह पुण्य कार्य नहीं है क्या इसमें मनोनिग्रह संयम स्वार्थ त्याग ये गुण विद्यमान नहीं है है निश्चित रूप से है। इन गुणों के अभाव में उत्कर्ष असम्भव है सत्य अद्रोह निष्ठा इनके बिना किसी भी समाज का उत्कर्ष नहीं हुआ करता। मनुष्य के उत्कर्ष व पराक्रम के लिए धर्म अनिवार्य है। महाभारत काल के अनुसार तो डाकुओं को भी सत्य धर्म का आश्रय लेना पड़ता है। उसके बिना वे यशस्वी नहीं हो सकते।

अपि पापकृतों रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक पृथक।

अद्रो हं अविसंवादं प्रवर्तते तदाश्रयाः॥

उन्हें अपने गिरोह की सीमा तक उस सत्य का पालन करना पड़ता है। लूट में प्राप्त माल का बंटवारा यदि न्यायपूर्ण नहीं हुआ तो उनके गिरोह में फूट घर कर लेगी व उनका सर्वनाश होगा। उनमें से यदि कोई एक भी मुखबिर भेदिया बन गया तो भी परिणाम यही होगा। यदि सब सहमत न हो सके फूट पड़ गयी संघभाव मिट गया तो भी वही हालत होगी। यदि व्यक्तिगत स्वार्थ प्रबल हो गया वे परस्पर असत्याचरण करने लगे तो अल्पावधि में ही वे सब पकड़े जायेंगे इसलिए डाकुओं को भी सत्य के सहारे ही रहना पड़ता है। परन्तु सत्य पालन की यह शर्त उनके अपने सदस्यों तक ही सीमित है। जो भी सौ पचास व्यक्ति दल के सदस्य होंगे उन्हीं तक यह सत्याचरण व धर्म मर्यादित है। उस सीमा के बाहर वे नीति नियतों का पालन नहीं करते। सब प्रकार के पाप और कपट करते हैं। फिर भी वे उन पापों के परिणामों से मुक्त रहते हैं। यदि सभी को पराभूत करने वाला कोई दूसरा सम्मुख अड़ जावे तो ही वे पराभूत होंगे। परन्तु अन्यो के साथ किये हुए पापाचरण व असत्य व्यवहार के कारण ये पराभूत होंगे तथा सबल दल सत्य और धर्म का पालन करने के कारण विजयी होगा ऐसा नहीं। ये दोनों दल स्वकीयों के साथ सत्य नीति का पालन कितना करते हैं इस बात पर ही उनका जयापजयी होना निर्भर है। परकीयों के साथ वह कैसा व्यवहार करते हैं इस पर नहीं।

डाकुओं का गिरोह यह एक छोटा समुदाय है। परन्तु उससे भी आगे बढ़कर बड़े समुदायों का विचार करें और सबसे बड़े संघटन राष्ट्र इस समष्टि का भी विचार करें तो ऐसा दिखाई देगा कि उसमें भी

स्वकीयों के साथ व्यवहार में सत्य एकनिष्ठा अविस्वादिता अद्राह और त्याग इन धर्म तत्वों की उत्कर्ष हेतु उतनी ही आवश्यकता है। और यह निर्विवाद सत्य है कि विश्व विजय की कामना से निकले हुए अंग्रेजों ने इस धर्म का पूरी लगन से पालन किया। अंग्रेजों का यह धर्म संघ अथवा समाज धर्म है। प्रारम्भ में जिस सत्य धर्म का पुण्याचारण का विचार हम कर रहे थे वह यह धर्म नहीं है। वह धर्म व्यक्तिगत स्वरूप का है। अपने धर्मग्रन्थों में विशेषकर संत साहित्य में इसी व्यक्ति धर्म का उपदेश है। गरीबों को दान देना चाहिए सत्य बोलना चाहिए हिंसा नहीं करनी चाहिए धर्मशालाएं बनवानी चाहिए कुएं खुदवाने चाहिए घाटों का निर्माण करवाना चाहिए सदावर्त चलाना चाहिए परस्त्री पर कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए पातिव्रत्य का पालन करा चाहिए आदि आदि प्रकार की आज्ञाएं धर्म ने की हैं। कुलधर्म जातिधर्म व वर्णधर्म का भी निरूपण अपने धर्म में मिलेगा। परन्तु उसमें संघ धर्म की दृष्टि नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने वर्णानुसार आचरण विवाह अत्येष्टि भजन पूजन करना चाहिए इतना ही नहीं उन उपदेशों का अर्थ है। क्षत्रिय क्षत्रिय के अथवा वैश्य के प्रति द्रोह न करें ऐसा उपदेश उसमें नहीं है। छोटी जातीय संकुचित दृष्टि से भी इस धर्म का उपदेश गत सहस्र वर्षों में भी किसी ने नहीं किया। यहां संकीर्ण जातीय प्रवृत्ति अवश्य ही थी। परन्तु समष्टि हित की संघ दृष्टि नहीं थी। पूरी कुम्हार जाति की अवनति होने लगी मालियों का पतन होने लगा तो क्या करना चाहिए इस जाति का बल संघधर्म किस तरह करना चाहिए इन बातों का विचार यहां किसी की बुद्धि में न आया। सम्पूर्ण समाज का विचार तो लवमात्र भी न किया गया। नागरिकों के व्यक्तिगत पापों के कारण ही समाज का पतन होता है। और पुण्याचरण में समाज उत्कर्ष को प्राप्त होता है। ऐसी तत्कालीन श्रद्धा थी।

मेरी राय में भारत का पतन का यही प्रमुख कारण है। संघधर्म संघविद्या यह ऐश्वर्य प्राप्ति की राजविद्या है। उस संघधर्म की शास्त्रशुद्ध उपासना गत हजारों वर्षों में तात्त्विक पद्धति से तो किसी ने की ही नहीं परन्तु व्यवहार में भी उसका विचार कभी नहीं गया। जीवन धारणा के लिए मनुष्य को समाज बनाकर रहना पड़ता है। परन्तु उस समाज का उत्कर्ष निष्ठा विशेष के बिना नहीं हो सकता। ऐसी निष्ठा की अनन्य साधना गत सहस्र वर्षों में भारतवासियों ने नहीं की। एक ही स्वामी के सेवक परस्पर संघर्ष नहीं करेंगे एक दूसरे के विरुद्ध द्रोह नहीं करेंगे इस प्रकार की निष्ठा का सदा व सर्वत्र अभाव ही रहा। हिन्दू सिख मुसलमान आपस में झगड़ा नहीं करेंगे इस प्रकार बन्धन कभी न था। मराठा मराठा से राजपूत राजपूत से कन्नड़ कन्नड़ से वैर नहीं करेंगे ऐसा तत्व भी यहां प्रस्थापित न हो सका। संघधर्म अथवा संघ विद्या जिसे कहना चाहिए वह यही है। भारत में आये हुए पाश्चात्य आक्रामक इस संघविद्या के अनन्य उपासक थे। भारतीयों के साथ व्यवहार में अन्याय असत्य धर्मभ्रष्टता का उन्होंने अवलम्बन किया परन्तु अपनी समष्टि की सीमा में वे सत्य न्याय स्वार्थत्याग आदि धर्मतत्वों का कट्टरता से पालन करते थे। उन्हें विजयश्री समुत्कर्ष और ऐश्वर्य की सदा ही प्राप्ति होती रही इसके पीछे ही रहस्य की बात यदि कुछ है तो

वह इस संघर्ष की अनन्य आराधना है। हमें प्रत्येक आक्रामक के हाथों पराभूत होना पड़ा इसके पीछे भी इस संघर्ष की उपासना का अभाव ही एकमेव कारण है।

ई० सन् 1001 में महमूद गजनवी ने भारत भूमि की ओर अपना पग बढ़ाया और पश्चात् के तीस वर्षों में उसने सत्रह बार चढ़ाई की। परन्तु एक बार भी उसने पराजय का मुंह नहीं देखा। उस समय से आगे के भारत के इतिहास में इसी प्रकार का घटना कम सुनने को मिलता है। और मराठों के उत्कर्ष के काल को छोड़कर विचार करें तो आगे का हाल भी ऐसा ही है यह अपना मूल स्वभाव मरहठों के उत्तरकाल में पुनः पूर्ववत् प्रबल हो उठा था। गत सहस्र वर्षों की कालावधि में संगठन का किसी भी प्रकार का तत्व भारत के किसी भी प्रान्त में जड़ नहीं जमा पाया। सत्य न्याय दया अहिंसा सहिष्णुता योग ज्ञान इनकी रट रात दिन यहां सुनाई देती थी। परन्तु समष्टि जीवन को सफल बनाने के लिए समाज रूप में जीवित रहने के लिए जिन निष्ठाओं की आराधना अनिवार्य होती है। उनका तो यहां सदा ही अभाव रहा।

सिखों का इतिहास देखिए। रणजीतसिंह सिखों का असामान्य प्रतिभासम्पन्न राजा था। उसकी मृत्यु के समय उसकी सेवा में 82 हजार लड़ाकू सैनिक थे। उस पूरी सेना को फ्रांसीसियों ने परिश्रमात्य पद्धति का सैनिक प्रशिक्षण देकर तैयार किया था। डेढ़ करोड़ राजस्व का प्रदेश उसके राज्य में था। 12 करोड़ रुपयों की रोकड़ खजाने में थी। महान पराक्रमी तथा अनेक युद्धों का अनुभव रखने वाले सेनापति उसकी सेवा में थे। विजय प्राप्ति के लिए और जिस चीज की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की सर्वतोन्मुखी अनुकूलता होते हुए भी सिख राज्य पांच सात साल में ही समूल नष्ट हो गया। राजा रणजीतसिंह की पत्नी रानी जिंदनकौर को बन्दी बना कर अंग्रेज बनारस ले गये। सिख रानी को माता मानते थे। उस माता को देख एक सिख का खून खौल उठा। परन्तु जो समाज असंगठित हो उसके क्रोध की परवाह कभी किसी ने की है। सिख धर्म भक्त थे। पर समाज को संगठित रखने की क्षमता उस धर्मभक्ति में नहीं थी। रणजीतसिंह का स्वर्गवास होते ही राजपुत्र और सरदारों में संघर्ष भड़क उठा। हत्या विषप्रयोग विद्रोह और गद्दारी रोज की घटनाएं बन गयीं। सिख समाज छिन्न विच्छिन्न हो गया। अंग्रेजों ने भारतीयों की कमजोरी भली भांति पहचान ली थी। ऐसा कुछ होगा इस बात का उन्हें पूरा भरोसा था। डलहौजी ने लिख रखा था। शीघ्र ही सिख अपने दीवान को मार डालेंगे और तत्पश्चात् एक दूसरे के प्राणों के ग्राहक बनेंगे। और ऐसा ही हुआ। जब राजा रणजीतसिंह थे तब अंग्रेज सिखों का लोहा मानते थे सिख अजेय थे। अंग्रेजों ने लिखा है कि पराक्रमी कार्यक्षम रणबांकुरा तथा उत्तम सैनिक के लिए आवश्यक सभी गुणों से परिपूर्ण सिखों को छोड़कर अन्य ऐसा शत्रु भारत में नहीं मिला। परन्तु रणजीतसिंह के पश्चात् यही अजेय सेना इतनी उद्दण्ड उन्मत्त और आसुरी हो उठी कि रानी जिंदन सोचती थी कि इस सेना का किसी के हाथों क्यों न हो संहार होना अच्छा है। और केवल इसी एक उद्देश्य से उसने इस सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध झोक दिया। रणजीत सिंह के वे रणबांकुरे धन के लिए दीवान को तथा रानी को पग पग पर त्रस्त करते थे। उनका अपमान करते थे। और चाहे जो अत्याचार करते थे। यह किस निष्ठा के लक्षण है इन सैनिकों

में उपर्युक्त सभी गुण थे पर वे संघर्ष की दृष्टि से भ्रष्ट हो चुके थे। न तो उन्हें संघर्ष का ज्ञान था न ही अधिकारी वर्ग इस संघर्ष से परिचित था। वे एक दूसरे को मिटाने की योजनाओं में संलग्न हो गये। अतः अंग्रेजों ने सभी को मिटा दिया। रणजीत सिंह से पूर्व के काल में भी यही धर्मभ्रष्टता विद्यमान थी। बन्दा बहादुर सिखों को तेजस्वी नेता था। कुछ दिनों तक उसने दिल्ली पति की नींद हराम कर दी। परन्तु अनेक सिखों को उसके कुछ धार्मिक विचार तथा आचार पसन्द नहीं थे। उन्होंने क्या किया उन्होंने अपने समाज को टुकराया और सिखों के जानी दुश्मन दिल्ली के बादशाह से जा मिले। उसने उन्हें मुगल सेना में सम्मिलित कर लिया तथा जागीरें दी। बस फिर क्या था मुगल सेना ने बन्दा बहादुर को कैद कर लिया और अनन्य यातनाएं देकर मार डाला।

थोड़ा सा मतभेद हुआ जरा सी हानि अथवा लाभ का प्रसंग आ गया तो उसी क्षण परम्परागत शत्रु से हाथ मिलाकर स्वजन स्वधर्म तथा अपने ही स्वामी का मूलोच्छेदन करते लज्जा नहीं आती थी। इस प्रकार का कार्य अपने स्वत्व पर कलंक है इस बात का विचार भी किसी के मन में नहीं आता था। किसी भी प्रकार की निष्ठा उन्हें बन्धनकारक सिद्ध नहीं हुई। सैकड़ों साल की पराजय के बाद भी इस बात का बोध न हुआ कि समाज रूप में जीवित रहने के लिए इस प्रकार की अव्यभिचारी निष्ठा अनिवार्य है। अंग्रेज और फ्रांसीसी अधिकारी यहां आते थे क्या वे भी अपमानित नहीं हुए अधिकारियों की नीतियों से क्या वे कभी असन्तुष्ट नहीं हुए क्या कभी उन के व्यक्तिगत स्वार्थों को चोट पहुंची ही नहीं क्या उनमें परस्पर द्वेष और ईर्ष्या थी ही नहीं द्वेष था ईर्ष्या थी अपमान हुए मतभेद हुआ सब कुछ हुआ। क्लाइव वारेन हेस्टिंग्स मेटकाफ आदि को अनेक बार अपमानित होना पड़ा उनमें मतभिन्नता पैदा हुई परन्तु उनमें से एक भी मरहठों निजाम अथवा हैदर से मिला नहीं। एक ने भी राष्ट्रद्रोह अथवा स्वजन द्रोह नहीं किया। उनकी राष्ट्रनिष्ठा उनकी समष्टिनिष्ठा इन सब बातों से अधिक सबल थी। मतभिन्नता द्वेष ईर्ष्या उसे स्पर्ष नहीं कर पाती थी। और यदि कोई इस प्रकार का द्रोह करता भी तो उसके लिए अपने समाज में रहना असम्भव हो जाता। ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति को अंग्रेजी ने समाज से बहिष्कृत किया होता। परन्तु भारत के किसी भी समाज ने इसे पाप नहीं माना। जिसका नमक खाना उसकी सेवा करना इतना ही उन्हें मालूम था। गोपालराव पटवर्धन पशवा का पराक्रमी सेनानी था। परन्तु जरा सी अनबन होते ही वह निजाम से जा मिला और उसके साथ पूना की लूट के लिए सम्मिलित हुआ। जैसे ही पुनः मित्रता हुई वापस आया। म्लेच्छ के हाथ की रोटी खाने वाले के लिए शायद उस काल में इतनी आसानी से पुनः समाज में सम्मिलित होना सम्भव नहीं था। परन्तु स्वराष्ट्र द्रोही बड़ी आसानी से वापस आते थे और समाज उनका स्वागत करता था। इस बात से यह स्पष्ट है कि भारत में इस संघर्ष का किसी भी दृष्टि में महत्व नहीं था। इसके अभाव में हम को पराजित होना पड़ रहा है हमारा धर्म नष्ट हो रहा है हमारी स्वतन्त्रता मिट रही है परतन्त्रता की बेड़ी में हमारा पैर फस रहा है इसका किसी को भी खेद नहीं था। और यदि किसी को खेद हो भी तो इस संघर्ष के अभाव के कारण ही यह विपदाओं का पहाड़ हम पर टूट पड़ा है यह

कार्य कारण भाव किसी के भी समझ में नहीं आया। हमारी धारणा थी कि भागवतधर्म में उपदिष्ट सत्य दान परोपकार जीवदया आदि सदगुण ही व्यक्तिगत पुण्य है और यही पुण्य समाज रक्षण हेतु पर्याप्त है। इसका कारण संघविद्या की उपासना यहां किसी ने नहीं की। परन्तु इसके कारण अपना समाज पतन के गर्त में उड़ गया और व्यक्तिगत नीतिमत्ता भी हम में नहीं रही।

सिखों के पूर्ववर्ती राजपूतों का इतिहास भी इसी बात का प्रमाण है। राजपूत पराक्रम धैर्य त्याग स्वधर्म प्रेम आदि गुणों के भण्डार थे। उनके पराक्रम व होतात्मय की गाथाएं उनकी स्त्रियों द्वारा किये हुए जौहर की कथाएं अत्यधिक रोमांचकारी हैं। परन्तु केवल संघभाव के अभाव के कारण ये सब गुण निरर्थक सिद्ध हुए। मुस्लिम आक्रमण से भारत की रक्षा करना तो सम्भव हुआ ही नहीं परन्तु उन्हें राजस्थान की स्वतन्त्रता को टिकाना भी दुश्वार हो गया। अकेले राजस्थान में ही मेवाड़ जोधपुर जयपुर बीकानेर बूंदी कोटा अजमेर जैसलमेर अलवर आदि अनेक छोटे छोटे राज्य थे। इनमें से प्रत्येक राजा को दिल्लीपति की शरणागति स्वीकार करनी पड़ी। उसके सम्मुख घुटने टेकने पड़े। उनकी आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सबसे अधिक लज्जा की बात तो यह थी कि प्रत्येक राजवंश को अपनी कन्याएं भी सुल्तान को समर्पित करनी पड़ी। नौरोज खुबरोज मीना बाजार आदि मेलों के प्रसंगों पर उन्हें अपनी स्त्रियों को भी सुल्तान के यहां भेजना पड़ता था। राजस्थान के अधिकांश राजवंशों के मस्तक पर यह कलंक क्यों लगा। किसी भी प्रकार की संघनिष्ठा उनमें नहीं थी इसलिए स्वधर्म स्वजाति स्वामी आदि किसी के भी प्रति निष्ठा को उन्होंने संघधर्म के रूप में माना नहीं। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद राठौर से लगाकर चलने वाली इतिहास की यही एक कहानी है। ऊपर जिनका उल्लेख किया है उन वंशों के राजा महाराजा रोज के आपसी कलह में डूबे थे। इन राजवंशों को इतिहास हत्याओं विषप्रयोग नरमेंध आदि छल प्रपंचों से कलंकित है। जरा सा अपमान भी राजपूतों को एक दूसरे की हत्या के लिए पर्याप्त कारण बन जाता था। यदि किसी राजा की बेटी सुन्दरी हुई तो उसकी प्राप्ति के लिए ये रक्तपात करने से नहीं चूकते थे। इस प्रकार कन्याओं को हरण करना सर्व सामान्य था। अनेक राजकुमारों ने राज्य लोभ के वंश में होकर पितृ हत्याएं भी कीं। भ्रातृ हत्या तो नित्य की ही बात थी। इन हत्याओं के कारण तथा इन राज कन्याओं के लिए राजस्थान में सदैव संघर्ष की ज्वाला भड़कती रहती थी। हम सभी हिन्दू हैं अतः मानापमान की इस संकीर्ण वृत्ति को तिलांजलि देकर राजस्थान में एक अखण्ड राज्य शक्ति की स्थापना कर इस्लाम के विरुद्ध अभेद्य संगठन खड़ा करना चाहिए राजपूतों एक हो जाओ राजपूत राजपूत एक है ऐसा तत्वज्ञान किसी राजस्थान में पनपा नहीं। हम्मीर कुम्भा सांगा आदि के समान कर्तृत्वसम्पन्न पुरुष उत्पन्न होने पर अनेक राजा इकट्ठा आते थे पर ऐसे प्रसंग भी कम ही हुआ करते थे। भेद संघर्ष फूट कलह यह उनका स्थायी भाव बन गया था। ऐक्य संगठन तो अपवाद के लिए ही देखने को मिलेगा। राणा प्रताप राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। परन्तु उनके विरुद्ध विद्रोह कर अम्बर बूंदी मारवाड़ बीकानेर आदि के राजा भी अकबर से जा मिले। हल्दी घाटी की लड़ाई में उन्हें पराभूत करने वाला सरदार मानसिंह भी राजपूत ही था। स्वयं राणा प्रताप का भाईसागर

जी भी मुगलों से जा मिला था। परन्तु गद्दारी और द्रोह ये शब्द उनके कोष में नहीं थे। यदि संघनिष्ठा हो तब तो इन शब्दों का कुछ अर्थ होगा। उस संघनिष्ठा के अभाव में किसे गद्दार कहें और किसे द्रोही करार दें यदि पतन होना ही हो तो सर्वप्रथम उच्च पद पर आसीन होना भी आवश्यक होता है।

अत्यन्त उग्र एवं भयंकर स्वरूप की व्यक्तिगत मानापमान की भावनाएं राजपूतों के मन में थी। उनकी रक्षा के लिए वे क्षणमात्र में रक्तपात करने के लिए तत्पर हो जाते थे। परन्तु राजस्थान के मानापमान की भावना उनके अन्तकरण में नहीं थी। हिन्दू धर्म के मानापमान की भावना भी इतनी प्रबल नहीं थी। यदि इस प्रकार की भावनाएं हो भी तो उनके लिए तुच्छ व्यक्तिगत मानापमान भूलने के लिए वे तैयार नहीं थे। राणा प्रतापसिंह से भेंट करने के लिए राजा मानसिंह गया। राणा ने उसका आतिथ्य सत्कार किया परन्तु मानसिंह के साथ भोजन करने से इन्कार कर दिया मुगलों के साथ आप ने अपनी बहनों का ब्याह रचाया है। आपका कुल पतिप हो चुका है। आप धर्मभ्रष्ट है। इन शब्दों में जब राणा ने अपने व्यवहार का समर्थन किया तो मानसिंह अपमान की ज्वालाओं में झुलस गया। तुम्हारा सम्मान मिट्टी में मिला दूंगा तो ही मैं सच्चा मान हूं। ऐसी भीषण प्रतिज्ञा उसने की। राणा ने साथ भोजन नहीं किया इस व्यक्तिगत अपमान की इतनी तीव्र अनुभूति करने वाले मानसिंह को स्वकुल की स्त्रियों को मुगलों के यहां भेजते मुगलों की दासता स्वीकार करते तथा रात दिन मुगलों के सम्मुख नतमस्तक होते अपमान की अनुभूति नहीं हुई। क्या यह अपमान नहीं था यह है राजपूतों के इतिहास की कहानी। मुगलवंश और मुगल राज्य का पोषण व वर्द्धन करने का श्रेय उन्हें है। राजा भगवानदास राजा मानसिंह बीरबल टोडरमल जसवन्तसिंह जयसिंह सवाई जयसिंह इन सभी ने पराक्रमपूर्वक मुगल साम्राज्य का विस्तार किया और उसे टिकाये रखा। अनेक राजपूज यह सब देखकर क्रोध की ज्वालाओं में जलते थे परन्तु असंगठित समाज के क्रोध की परवाह आज तक किसी ने की है।

हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब हम इसी कालखण्ड में प्रस्थापित मुस्लिम सत्ता के इतिहास का निरीक्षण करते हैं। उनके इतिहास के पृष्ठ भी कपट हत्या विद्रोह फूट और विषप्रयोग आदि पापों से सने हुए हैं। आपस में मार काट और युद्ध नित्य चलता रहता था। दिल्ली की सल्तनत पर हमेशा तलवार लटकती रही। गुलाम वंश गोरी वंश खिलजी तुगलक और लोदी वंश के परस्पर संघर्षों में दिल्ली का तख्त सदा डोलता रहा। अकबर के काल तक उसमें स्थिरता नहीं थी। राज्य सत्ता के लिए हत्याएं करना जहर देना भाई की आंखें निकलवा लेना नित्य की कहानी थी। फिर भी उन्होंने सम्पूर्ण भारत पर विजय प्राप्त की तथा कुछ प्रान्त यदि छोड़ दिये जायें तो चार-पाँच सौ साल तक सम्पूर्ण भारत के शासनसूत्र सतत उनके हाथों में रहे। उनकी इस सफलता का रहस्य यदि कुछ है, तो राजपूतों की तुलना में उनकी संघनिष्ठा प्रबल थी- यही है। मुसलमान परस्पर संघर्ष करते रहे। परन्तु राजपूत और मुसलमान के युद्ध में- मुसलमान सरदार राजपूत की ओर से कुछ राजपूतों का लड़ना तो सामान्य नियम सा था। राणा सांगा ने बाबर से जूझने से पहले, अनेक मुसलमान सरदारों को परास्त किया तथा परास्त करने के

बाद उनके साथ उदारता का व्यवहार किया। परन्तु फतेहपुर- सीकरी की लड़ाई में वे सब के सब बाबर से जा मिलें। मानसिंह, जसवन्तसिंह, जयसिंह आदि सेनापति विजय- यात्राओं पर जाते और पराक्रमपूर्वक नये प्रदेश जीत कर मूगल साम्राज्य का विस्तार करते थे। स्वपराक्रम से हिन्दू राज्य के विस्तार का कार्य करने वाला एक भी मुसलमान नहीं हुआ। मुसलमान मुसलमान के विरुद्ध लड़ा- यह उनकी संघनिष्ठा की दुर्बलता का लक्षण अवश्य है, परन्तु राजपूतों का पक्ष लेकर एक मुसलमान दूसरे के विरुद्ध लड़ा हो-ऐसे उदाहरण दुर्लभ ही हैं। अपवाद के लिए ही ऐसे कुछ प्रसंग हैं। हिन्दुओं को सदा ही पराजय का मुख देखना पड़ा क्योंकि उनके धर्मद्रोह की प्रवृत्ति अपवादात्मक नहीं थी, अपितु वह सर्वसामान्य नियम बन चुकी थी। अथवा यों कहिये कि इस बात का ज्ञान उन्हें नहीं था कि इसे धर्मद्रोह मानना चाहिए। सांघिक, सामूहिक समाज जीवन की कल्पना से वे अपरिचित थे अतः संघद्रोह नाम की कोई बात होती है और वह समाज के लिए हानिकर होती है- इस बात से भी वे अनभिज्ञ थे।

शिवाजी महाराज और स्वामी रामदास ने भारत में से लगभग लुप्त हुई इस निष्ठा का पुनर्जागरण करने का प्रयत्न किया। इस कारण उस कालखण्ड में प्रबल मराठा शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है तथा भारत से इस्लाम के आक्रमण का समूलोच्छेदन करने में उन्हें सफलता मिली। परन्तु इन सभी बातों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। यदि अंग्रेजों के साथ तुलना करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि मराठा जाति में संघनिष्ठा अत्यन्त अल्प प्रमाण में थी अथवा नहीं के बराबर थी। परन्तु राजपूत, सिख, बंगाली, सिन्धी, गुजराती आदि प्रान्तवासियों से तुलना करें तो कहना होगा कि मराठा संघनिष्ठा के इतने तत्त्व के- अल्पकाल ही क्यों न हो- उपासक बने थे। 'हिन्दवी स्वराज्य'की स्थापना का उदात्त लक्ष्य प्राप्त करने की प्रेरणा मराठों के अन्तःकरण में शिवाजी के प्रयत्नस्वरूप जड़ जमा चुकी थी और अन्त तक नाना फड़नवीस तथा महादजीसिन्धिया के काल तक यही भावना मराठा लोगों के जीवन की धुरी थी। अंग्रेजों जैसे संघनिष्ठ शत्रु के सम्मुख मराठों की पराजय का कारण उनके रक्त में बसने वाले फूट, भेद, संघर्ष के बीज थे। परन्तु पचास-साठ वर्ष 'हिन्दवी स्वराज्य'- 'मराठा साम्राज्य' का ध्येय साकार करने की लगन से, शिव छत्रपति और पेशवा के प्रति स्वामिभक्त की भावना से- आंशिक रूप से संगठित जीवन का साक्षात्कार कर, मरहटों के छोड़े भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सरपट दौड़ रहे थे। उन्हें एक सूत्र में बाँधने वाला धागा अति क्षीण था इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अठारहवीं सदी के अन्त तक चलने वाली मराठों की पराक्रमपूर्वक हलचलके पीछे- यह किसी एक प्रेरणा से चल रहा है। इसमें कुछ सेंगटन- सूत्र विद्यमान हैं ऐसा अस्पष्ट ही क्यों न हो परन्तु निश्चित भाव प्रगट होता है। समष्टि-निष्ठा का यह तत्व अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' अल्प मात्रा में भी किया हुआ धर्माचरण महा संकटों से बचाता है यह बात इस कारण ही उन्हें सत्य सिद्ध होती है। मराठा इतिहास इस बात का प्रमाण है और इस कारण ही उन्हें भारत को परदास्य से मुक्त कराने में बहुत कुछ सफलता मिली।

मराठों के अन्तःकरण में स्फुरित होने वाली साम्राज्य निर्मित की आकांक्षा की प्रेरक शक्ति की झलक सन् 1803 में यशवन्तराव होल्कर द्वारा प्रतिनिधि को लिखे हुए पत्र में मिलती है। यशवन्तराव लिखते हैं-“आज तक सभी ने मिलकर एक राय होकर हिन्दू राज्य का संचालन किया। इधर कुछ दिनों से प्रत्येक प्रदेश में गृह-कलह के कारण राज्य-हानि हुई, जो हिन्दू धर्म की हानि का कारण बन गयी है। इसका समूल नाश करने के लिए सभी का संगठित होना अनिवार्य है- तभी हिन्दू टिक सकेंगे। जब तक यह देह है तब तक अंग्रेजों के साथ युद्ध करते रहने का हमारा मन है। हम उनके साथ युद्ध का उपक्रम कर चुके हैं। कोई अकेला ही यह कार्य करे- और बाकी के सभी के सभी अपने-अपने राज्य की देखभाल करते हुए दर्शक के समान तमाशा देखें तो क्या परिणाम होगा- इसका मन में ठीक-ठीक विचार कर हिन्दू धर्म की जिसमें रक्षा हो- वही करें।” केवल संगठन अथवा तत्त्व का होना मात्र ही महत्त्व नहीं रखता। इस तत्त्व पर दनकी कितनी प्रगाढ़ श्रद्धा है उसके हेतु वे कितनी मात्रा में त्याग करने के लिए उद्यत हैं व्यक्तिगत मानापमान, ईर्ष्या, द्वेष आदि को भुलाने को उनके मन कितने तैयार हैं, सत्य, अद्रोह, अविवाद आदि संघविद्या के मौलिक तत्त्वों का पालन वे कितनी कट्टरता से करते हैं- आदि बातों पर ही सब कुछ निर्भर है। और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर यी दिखाई देगा कि सन् 1715 तक मराठों को इस संघधर्म का ज्ञान कुछ अंशों में था। ई0 सन् 1800 के पश्चात् यह दुर्बल सूत्र भी छिन्न भिन्नविच्छिन्न हो गया और मराठों की अन्तिम घड़ियाँ पूरी हो चुकीं। सन् 1800 के पश्चात् सिन्धिया, होल्कर, भोंसले आदि प्रबल मराठा सरदार अलग-अलग भी अत्यधिक सामर्थ्यसम्पन्न थे। पेरान नामक फ्रान्सीसी सेनापति द्वारा प्रशिक्षित चालीस हजार सैनिक दौलतराव सिन्धिया की फौज में थे। आगरा और अलीगढ़ में सिन्धिया के तोप ढालने तथा शस्त्र बनाने के उत्कृष्ट कारखाने थे। यशवन्तराव होल्कर अद्वितीय सेनापति था। दो वर्ष तक अकेले उसी ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे। सातारा के छत्रपति के प्रति स्वमिनिष्ठ हो, यदि सिन्धिया, होल्कर, भोंसले और गायकवाड़ एक हो जाते, हिन्दू धर्म की रक्षा करनी चाहिए, ऐसी यदि उनकी दृढ़ इच्छा होती तो बड़ी सरलता के साथ अंग्रेजों को परास्त किया जा सकता था। इनमें से एक न एक सरदार सदा इस बात के लिए यत्नशील रहा कि सश्री एक हो जावें फूट सभी के विनाश का कारण बनेगी इस बात की अनुभूति भी उन्हें थी- इस बात के प्रमाण उस समय के पत्र- व्यवहार में सहज उपलब्ध हैं। परन्तु इन सब बातों का उपयोग नहीं हुआ। क्यों न हो सका? कारण स्पष्ट है कि “जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः” वाला हाल सभी का था। संघधर्म की साधना के लिए लगने वाला संयम, त्याग, सत्यनिष्ठा, उच्च ध्येयवादिता- उनमें से एक में भी नहीं थी। इसके सम्बन्ध में एक अत्यन्त खेदकारक घटना इस प्रकार की है - सिन्धिया, होल्कर, पेशवा, भोंसले को एक कर अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न सिन्धिया रि रहे थे। परन्तु होल्कर और बाजीराव पेशवा की परस्पर आग-पानी की सी शत्रुता थी। दौलतराव सिन्धिया की भी यशवन्तराव से पटती नहीं थी। फिर भी एकजुट करने की आवश्यकता थी। अतः सिन्धिया ने बाजीराव को लिखा, ‘अभी आप हां में हां मिला दीजिये। पहले हम एक होकर अंग्रेजों का पूर्ण विनाश कर डाले,

पश्चात् सभी मिलकर होल्कर को कांटे के समान निकाल फेकेंगे।' पर पत्र रघुनाथ राव पेशवा ण्णराघोवण्ण के दत्तक पुत्र अमृतराव के हाथ पड़ गया। अमृतराव प्रौढ़, कर्तृत्वसम्पन्न एवं चतुर पुरुष माना जाता था। उसके अन्तःकरण में, मराठा शक्ति, छत्रपति, हिन्दूधर्म, पेशवा-वंश आदि के प्रति यत्किंचित भी निष्ठा होती तो वह उस पत्र को नष्ट कर देता और सिंधिया को चार समझदारी की बातें बताता। परन्तु इतिहासकार राजवाड़े लिखते हैं कि 'वे मनुष्य नहीं थे। पशु थे। स्वामी, धर्म, सत्य आदि से उनका दूर का भी रिश्ता नहीं था। अमृतराव ने उस पत्र को नष्ट तो किया ही नहीं, परन्तु इसके विपरीत वह पत्र गवर्नर जनरल वेलेजली के पास भेज दिया। सिंधिया के साथ सम्मिलित होने के लिए दो मुकाम आगे बढ़ा हुआ होल्कर सिंधिया के विरुद्ध भड़क उठा और उसने सिंधिया के प्रदेश में लूट-खसोट शुरु कर दी। अंग्रेजों के द्वारा सिंधिया की पराजय होने तक वह अंग्रेजों का मित्र बना रहा। वेलेजली डायरेक्टर बोर्ड के चेयरमैन को लिखता है- 'भोंसले, सिंधिया और होल्कर यदि संगठित हो जाते तो इन तीनों से एक साथ जूझने लायक मेरे पास शक्ति नहीं थी। जब कि मैं इसी चिन्ता में डूबा हुआ था। ऐसे समय अमृतराव ने मुझे यह पत्र दिया। इस कारण तो हम टिक सके और इस पर आपको शिकायत है कि अमृतराव को आठ साल पेन्शन क्यों दी- इससे दुगुनी भी दी जाती तो भी वह थोड़ी ही होती।'

इस काल में मराठा राज्य के नागरिक शूर, धीर, साहसी थे। उनके पास विपुल सेना थी। अद्वितीय सेनानी थे। चतुराई थी- परन्तु समाज रूप में जीवित रहने की राजविद्या से वे अनभिज्ञ थे। संघनिष्ठा का राजगुह्य उन्हें ज्ञात न था। यही उनका पाप था- इस दृष्टि से वे पतित थे। दुराचारी और धर्मभ्रष्ट थे- वे असत्याचारी थे। और अंग्रेज पुण्यशील, सत्यवादी तथा सदाचारी थे। इस समय वेलेजली और डायरेक्टर बोर्ड के मतभेद अत्यन्त विस्फोटक अवस्था में थे। साम्राज्य-विस्तार अथवा व्यापार-संवर्द्धन का विवाद उग्र रूप धारण कर चुका था। परिणामस्वरूप डायरेक्टर बोर्ड ने वेलेजली को कार्यमुक्त कर दिया। उस समय- इतनी प्रबल शक्ति का स्वामी तथा अत्यन्त कर्तृत्ववान् वेलेजली-क्षणमात्र में पद त्याग कर सका। मराठा राज्य में इतने शक्तिसम्पन्न अधिकारी को सेवा-निवृत्त करना सर्वथा असम्भव था। संघभाव से शून्य ऐसा यहां का समाज था। इस कारण ऐसा सरदार तुरन्त ही विद्रोह कर देता अथवा अंग्रेज या मुगलों से जा मिलता। अंग्रेजों का संघभाव इतना प्रबल था कि इस प्रकार की अवांछनीय घटना कभी हुई नहीं। व्यक्तिगत जीवन में- मराठा व अंग्रेज दोनों ही समान थे। उनमें किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं था। मराठों के समान अंग्रेज भी मद्यपान, व्यभिचार, कपट, षड़यन्त्र, गुप्त हत्याएं, वचन-भंग, असत्य भाषण, द्रव्य-लोभ आदि दुर्गुणों से व्याप्त थे। इन दुर्गुणों से कोई भी मुक्त नहीं था। यदि जय-पराजय इन गुणावगुणों पर निर्भर होती तों अंग्रेजों के विजयी होने की जरा भी गुंजाइश नहीं थी। परन्तु वैभव, विजय, ऐश्वर्य, श्री, इन बातों पर अवलम्बित नहीं होती। इन सभी का आधार तो संघधर्म है। और अंग्रेज इस संघधर्म के अनुयायी हैं। वे कभी संघधर्म से च्युत नहीं हुए- यही उनकी विजय का रहस्य है और मराठा शक्ति की पराजय भङ्गी इस संघधर्म से से च्युत होने के कारण ही हुई है। बाजीराव द्वितीय अत्यन्त

व्यसनी, नीच, पापी एवं दुष्ट था। इसके विपरीत अन्तिम छत्रपति प्रतापसिंह- अत्यधिक शीलसम्पन्न, निर्व्यसन, एवं धर्मात्मा थे। अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस बात की पुष्टि की है। परन्तु इस कारण से उनका अपमानित एवं पराभूत हो रात्य-भ्रष्ट होना टल नहीं सका। पापात्मा बाजीराव और पुण्यात्मा प्रतापसिंह दोनों की ही भवितव्यता में अन्तर नहीं पड़ा। अंग्रेजी आक्रमण का प्रतिकार करने का सामर्थ्य प्रतापसिंह के पुण्याचरण से उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। सत्य, अहिंसा, जीव-दया, दान, परोपकार, अस्तेय, निरपेक्षवृत्ति ये सभी भागवतधर्म-प्रणीत श्रेष्ठ एवं उदात्त धर्म-लक्षण हैं। मानवता की सच्ची शोभा हैं। शत्रु से भी स्नेह करें। दुष्ट पुरुष से भी प्रतिशोध न लें, विपक्षी को विपत्तियों से घिरा देखकर प्रसन्न न हों, सत्य के द्वारा असत्य पर विजय प्राप्त करें, अहिंसा द्वारा हिंसक को अपनायें, जिसने सींचकर पांषण किया और जो कुल्हाड़ी लेकर मूलोच्छेदन करने आया इन दोनों को ही शीतल छाया देने वाले वृक्ष के समान सज्जन व दुर्जन का हित रें इसके समान श्रेष्ठ धर्म निर्विवाद रूप से दूसरा नहीं। परन्तु यह भुला देना अनुचित होगा कि ये धर्मतत्त्व-संघर्ष के सहारे ही टिक सकते हैं। जो समाज जीवन के इस रहस्य को दृष्टि ओझल कर देता है, वह भागवत धर्म का पालन भी नहीं कर सकता। जो इस राजविद्या की उपेक्षा करते हैं उनकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। उनके वैभव का विनाश हो जाता है, उनके भाग्य में परतन्त्रता का नरकवास भोगना लिखा रहता है और लाचार होकर स्वाभिमानशून्य, निकृष्टतम अपमानित जीवन बिताने का प्रसंग उन पर आता है। ऐसी परिस्थिति में स्वधर्म का अपमान खुली आँखों देखना पड़ता है। परिस्थिति-विशेष में माँ-बहनों के सतीत्व का सौदा करना पड़ता है। सत्य, ध्येयपरायणता, दया, क्षमा, शान्ति आदि तत्त्वों का पालन, परकीयों के साथ बरतना तो दूर रहा, स्वकीयों के साथ भी उनका व्यवहार में लाना असम्भव हो जाता है। शत्रु से भी स्नेह करना चाहिए, 'वसुधैवकुटुम्बकम्', 'प्राण जाय पर वचन न जाई।' आदि उपदेशों की रट, रात-दिन जिनके कान फाड़े डाल रही थी, ऐसे राजपूत, सिख, मराठा अपने पड़ोसी राजा के साथ भ्नी स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं कर पाते थे। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की उनकी कल्पना, राजस्थान, महाराष्ट्र, या पंजाब की सीमाओं को भी व्याप्त न कर सकी। इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष अपने सगे भाई के साथ भी वे सत्याचरण नहीं करते थे। पग-पग पर असत्य, हिंसा, हत्या, विषप्रयोग ही उनका जीवन बन गया था।

इसके विपरीत अंग्रेज-समाज की ओर दृष्टिगत करें तो दिखाई देगा कि उनका जीवन संघर्ष के पालन में तो श्रेष्ठ है ही अपितु साथ ही व्यक्तिधर्म के पालन में भी वे हमसे बाजी मार गये हैं। इस सत्य को हमें स्वीकार करना होगा। इंग्लैण्ड के कोष में 'विवेक धन' नाम से कुछ राशि प्रतिवर्ष जमा होती है। वहाँ का शासन आयकर निर्धारित करता है। आय-कर की पात्रता रखने वाले सभी नागरिक शासन की निबाह में आ नहीं पाते। परन्तु जो छूट जाते हैं वे स्वयं अपनी आयकर की राशि शासकीय कोषालय में जमा करवा देते हैं। वहाँ इसी धन का नाम 'विवेक धन' है। अपने यहाँ दो सौ करोड़ रुपये

की आयकर की चोरी होती है- यह सारी दुनियाँ को मालूम है। भागवत धर्म के सच्चे अनुयायी कौन हैं- इसकी कसौटी लगाने के लिए यह एक बात पर्याप्त है? इस प्रकार की विवेक-जागृति यह 'धर्मभाव' अंग्रेजों के व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलता है। रास्तों के किनारे रखा हुआ अखबारों का गड्ढर और उसके पड़ोस में रखी हुई धन की पेटी इंग्लैण्ड की प्रामाणिकता के प्रतीक के रूप में हैं। ठीक ऐसे ही अंग्रेज मिशनरी- लगभग सभी यूरोपियन मिशनरी- कर्तव्य निष्ठा और निःस्वार्थ सेवा के प्रतिरूप कहलाते हैं। इधर कुछ समय से वे स्वार्थ और राजनीति की लपेट में आ गये हैं। परन्तु शिक्षा-प्रसार, रोग-निवारण, अनाथ- अपंगों की सेवा- इन कार्यों के लिए वे दुनियाँ भर में चन्दन जैसे पहले के समान आज भी अपनी काया को कष्ट देते हैं, इस बात की ओर से आँखें मूँद लेना असम्भव है। और यह कार्य करते समय उन्होंने देश, वंश, जाति का विचार नहीं किया- भेद नहीं माना। 'राजयक्ष्मा' का रोगी जानकर उसे टुकराया नहीं, महारोगी(कोढ़ी) जानकर अवहेलना नहीं की। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' इस महान् तत्त्व को उन्होंने यथार्थ रूप में जीवन में उतारा है। यदि उन पर स्वार्थपरता का दोष मढ़ना ही हो, तो अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि उन्होंने यह सब बपने देश के लिए किया। व्यक्तिगत स्वार्थ का दोष उन पर एक क्षण के लिए भी टिकना सम्भव नहीं है। अंग्रेज व्यापारी की नैतिकता का निरीक्षण करें तो भारतीय व्यापारियों से वे कहीं श्रेष्ठ हैं। अच्छे माल के नाम पर सड़ा-गला और निकृष्ट माल भेजने के लिए भारतीय व्यापारी विदेशों में बदनाम हो चुके हैं। पराक्रम, साहस, उद्यमप्रियता और ज्ञानेषणा की दृष्टि से विचार करें तो भी यह स्थिति देखने को मिलेगी। व्यक्ति के नाते से भी अंग्रेज हमारी तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। जापान रे अभी- अभी संगठित जीवन का प्रारम्भ किया है। परन्तु जापान-यात्रा से आये हुए प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनने के लिए मिलेगा कि जापान का नागरिक नैतिकता के क्षेत्र में भारतीयों की तुलना में कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है। वहाँ के श्रमिक भी हड़ताल करते हैं- यह नहीं कि करते ही न हों। परन्तु जब वे काम करते हैं तब आठ घण्टों में से एक मिनट भी मक्कारी नहीं करते। ऐसा करने में अपने राष्ट्र की हानि होगी इसका उन्हें ज्ञान होता है। यही संघविद्या का रहस्य है। इसकी उपासना की जावे तो सामान्य नागरिक के जीवन का नैतिक स्तर भी ऊँचा उठता है। 'समस्त संसार को अपना परिवार' मानने की विशालता के भले ही वह न पा सकेगा, परन्तु 'राष्ट्र को ही अपना परिवार' मानने की प्रवृत्ति उसके मन में जाग उठती है। ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि देशों में इस राष्ट्रभाव के जागरण के फलस्वरूप ही वहाँ के नागरिक हमारी तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ नैतिक जीवन को पा सके हैं। वे हमसे अधिक सदाचारी और धर्मनिष्ठ हैं।

परन्तु इस बात को कभी दृष्टि आझल नहीं होने देना चाहिए कि श्रेष्ठ भागवत धर्म केवल संघधर्म के सहारे ही पनप सकता है शत्रु के साथ भी प्रेममय व्यवहार करना चाहिए- यह भागवत्-धर्म का श्रेष्ठ तत्त्व है- परन्तु पृथ्वीराज चौहान को इस धर्मचारण का अधिकार नहीं था। मुहम्मद गोरी को प्राणदान ने के पश्चात् वह पुनः हमला कर दे तो भी उसे परास्त करने का सामर्थ्य यदि- स्वधर्म व स्वराष्ट्र-निष्ठा

के कारण राजपूतों के पास होता- तो पृथ्वीराज का सह धर्माचरण उसके लिए शोभनीय होता। परन्तु राजपूत उस संघनिष्ठा से शून्य थे। केवल जयचन्द राठौर ही महमूद गोरी के पक्ष में सम्मिलित हुआ हो ऐसी बात नहीं थी अपितु पृथ्वी राज के अनेक सरदार भी उसकी ओर जा मिले थे। ऐसी परिस्थिति में विश्वयापी उदार नीति का व्यवहार करने का अधिकार किसी को भी नहीं हो सकता। शत्रु को क्षमादान करने की नीति के कारण ही शहाबुद्दीन गोरी पुनः भारत आसका। असंख्य राजपूत खेत रहे- हिन्दू साम्राज्य मिट गया- धर्म नष्ट हुआ और नैतिकता भी उनसे रुठ गई। भागवत धर्म तो दुर्बल लता के समान है। वह तो सबल वृक्ष के सहारे ही टिक सकता है। महाभारत में कहा है कि :

अधिष्ठतो बने धर्मो, द्रुमे वल्लीव संश्रिता।

जैसे वृक्ष के सहारे बेल रहती है, वैसे ही बल के सहारे धर्म रहता है। यहां 'बल' शब्द का प्रयोग पराक्रम-रणपराक्रम- इस अर्थ में किया गया है।

बले प्रतिष्ठितो धर्मो, धरण्यां इव जंगमम्।

यहां भी बल शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। इस लेखमें संघविद्या, अथवा संघधर्म, इन शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ को प्रकट करने के लिए किया गया है। राजपूत- मुसलमान, मराठा-अंग्रेज आदि के युद्धों में- जय-पराजय करवाने वाली निर्णायक शक्ति संघनिष्ठा की शक्ति थी। भागवत धर्म के रक्षण के लिए यह संघधर्म अनिवार्य है। बीती हुई शताब्दियों में हम इस भ्रम के शिकार थे और आज भी है कि भागवत धर्म संघनिष्ठा के अभाव में भी टिक सकता है- वही राष्ट्र को विजय-पथ पर ले जाने का एकमेव अमेघ साधन है। परन्तु इतिहास ने इसकी कलाई खोल कर रख दी हैं। महर्षि व्यास का कथन भी इस बात का प्रमाण है। शिवाजी महाराज द्वारा कल्याण के सूबेदार की कुलवधू को माता मानकर ससम्मान विदा करना निश्चित रूप से अनन्य श्रेष्ठ धर्माचरण था। परन्तु शिवाजी महाराज को प्राप्त जयापजयो से इसका सम्बन्ध जोड़ना अनुचित होगा। क्योंकि ऐसी हजारों बहू- बेटियों का बलात् अपहरण कर उन्हें अपने हरम में ढकेलने वाले दुष्टों ने भी सैकड़ों वर्षों तक विजय का डंका बजाया है। सैकड़ों वर्षों तक उनका साम्राज्य बना रहा है। प्रारम्भ में अंग्रेजों की नैतिकता के सम्बन्ध में उल्लेख किया था, उसका आशय भी यही था। शिवाजी महाराज ने मराठा मात्र को संगठित कर उनके मनो मे संघधर्म-परायणता को पनपा कर जिस सामर्थ्य को जन्म दिया उसका ही फल था कि 'हिन्दू साम्राज्य'- 'हिन्दवी स्वराज्य' प्रस्थापित हुआ। और शिवाजी महाराज के उस उदात्त चरित्र का अभिमानपूर्वक गुणगान करने के लिए हम इस दुनियां में आज हिन्दू का जन्म ले सके। अतः यह त्रिकालाबाधित सत्य है कि जिस प्रकार धरती के सहारे चराचर सृष्टि टिकी हुई है। वृक्ष के सहारे जिस प्रकार लता फलती-फूलती है, वैसे ही संघबल अथवा संघ-धर्म का आश्रय पाकर ही परमोदार भागवतधर्म जीवित रह सकेगा। अन्यथा भागवतधर्म के उपासकों के भाग्य में पराधीनता का नाटकीय जीवन बिताना ही लिखा रहता है और उनका जीवन सभी प्रकार के धर्म से हीन हो जाता है।

वानर सेना के साथ राम और लक्ष्मण लंका पहुंचे। पश्चात् भीषण राम-रावण-संग्राम प्रारम्भ हुआ। अनेक बार राम और लक्ष्मण संकटों से बुरी तरह घिर गये। सम्पूर्ण विनाश का भय उनके मनःचक्षुओं के सम्मुख नाच उठा। एक बार दोनों ही भाई नागपाश में बंध गये। एक प्रसंग पर मायावी इन्द्रिजित द्वारा सीतावध हुआ देख स्वयं राम मूर्च्छित हों गये। एक बार तो लक्ष्मण को शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित हुआ देख राम उसके जीवन की आशा का परित्याग कर विलाप कर उठे। ऐसी ही एक पराजय की घड़ी में लक्ष्मण जी रामचन्द्र जी से बोले-‘रामचन्द्र जी! आप जितेन्द्रिय हैं, सदाचारी हैं, धर्मपरायण हैं- फिर भी जो धर्म संकटों से आपही रक्षा नहीं कर सकता वह धर्म व्यर्थ है। यदि अधर्म दुःख का कारण होता तो रावण को नरक भोगना पड़ता और आप सुख प्राप्त करते। अधर्मनिष्ठ पुरुषों की समृद्धि होती देख तथा धर्मनिष्ठ पुरुषों को कष्ट झेलते देखकर ऐसा लगता है कि ‘धर्म सुखदाता है, और अधर्म दुःख का कारण’ यह कथन सत्य नहीं है।’ महाभारत में भी इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं जहां इस प्रकार की चर्चा की गयी है। द्रौपदी और भीम ने यही लक्ष्मण के वचन- धर्मराज को सुनाये हैं। धर्मभ्रष्ट दुर्योधन को सुखोपभोग और धर्मात्मा युधिष्ठिर को वनवास भोगते देख कर भीम ऐसी ही अनेक शंकाओं से व्याकुल हो उठा। इन सभी बातों का उचित विचार करने के पश्चात् ही व्यास, श्रीकृष्ण, और भीष्मपितामह इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि युधिष्ठिर का उदात्त धर्म बल के अभाव में टिक नहीं सकता। योगेश्वर कृष्ण के साथ गाण्डीवधारी अर्जुन का सहयोग हो तो ही श्री, विजय और भूति की प्राप्ति होती है। अन्यथा ‘वसुधैवकुटुम्बकम्’ यह परमोदारवृत्ति शत्रु के लिए ही लाभकारी सिद्ध होती है। रामायण और महाभारतकालीन श्रेष्ठ धर्मज्ञ जीवन के इस रहस्य के, इस गूढ़ तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता थे। इस कारण ही उन्होंने उद्घोष किया ‘धर्मो रक्षितः।’ संघर्ष के द्वारा भागवत धर्म का रक्षण किया जावे, तो ही वह समाज की रक्षा कर सकेगा। अन्यथा यह इस कार्य के लिए असमर्थ सिद्ध होगा।

अपने पूर्वज इस सिद्धान्त के ज्ञाता थे और वे इसके अनुसार आचरण करते थे। इस कारण सातवीं-आठवीं शताब्दी तक भारत का सदा ही उत्कर्ष हुआ। सिकन्दर से लगा कर आगे के नौ-दस शताब्दी के कालखण्ड में अत्यन्त भयानक स्वरूप के अनेक आक्रमण हुए, परन्तु प्रत्येक आक्रमक भारतीयों के हाथों परास्त हुआ। आगे चलकर समुत्कर्ष के इस गूढ़ तत्त्व को वे भूला बैठे। सभी संतों ने हिन्दुस्तान में केवल भागवत धर्म का प्रसार व प्रतिपादन किया। समर्थ ने लिखा है ‘शक्ति ने मिलती राज्यों। युक्ति ने यत्न होतसे। शक्ति युक्ति मिले जेथे। तेथे श्रीमंत नांदती।’ अर्थात् राज्यों का निर्माण शक्ति से होता है। युक्ति यत्नों की माता हैं। जहाँ शक्ति और युक्ति साथ- साथ रहती हैं वहाँ श्री और समृद्धि भी रहती है। महाभारतकार द्वारा बताया हुआ यह धर्म- रहस्य का मार्ग वे जानते थे। इस शक्ति की उपासना का मार्ग संघर्ष का मार्ग है इस बात का ज्ञान उन्हें था इसलिए ही उन्होंने ‘मराठा तेवढा मेलवावा’ ‘मराठा मात्र को संगठित करो’ इस राजविद्या का उपदेश मराठा जाति को दिया। तब तक मराठा इस मन्त्र की अंशमात्र भी उपासना करते रहें- उन्हें सफलता मिली। मराठा राज्य की केन्द्रीय सत्ता की स्थापना का श्रेय मराठों को

मिला, भले ही वह दुर्बल ही हो। वे अपनी इस केन्द्रीय सत्ता के प्रति कुछ निष्ठा से व्यवहार करते रहे। उनकी इस संघनिष्ठा के कारण ही वे अन्यों की तुलना में बहुत अधिक सफल हुए। आगे के काल में रामदास के समान संघधर्म का उपदेशक उत्पन्न नहीं हुआ। इस कारण वे इस धर्म रहस्य को भूल गये। व्यक्तिगत पाप-पुण्य ही उत्कर्ष और अपकर्ष का मूल कारण होता है। ऐसी गलत धारणा समाज जीवन में पुनः एक बार छर कर गयी। जब भारत में अंग्रेजी राज्य स्थिर हुआ उस समय ऐसा एक लोकप्रवाद था कि रामायण काल के वानर ही अंग्रेज बन कर आये हैं। उनकी उत्तम सेवा से प्रसन्न हो, सीता माता ने उन्हें वरदान दिया था कि 'कलियुग' में तुम्हें रात्य प्राप्त होगा। समाज की यह भ्रान्त धारणा अनेकानेक वर्षों तक थी कि अंग्रेजों के पूर्व जन्म के पुण्यकर्मों का यह फल था कि वे राजा बने। इस बात से यह सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत धर्माचरण 'श्री' विजय और भूति का दाता है, और अधर्म तथा असत्य के कारण ही राज्यों का विनाश होता है यही सर्वसाधारण भारतीय का विचार था।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के साथ नया युग प्रारम्भ हुआ। भारत में राष्ट्रभाव का उदय हुआ। साथ-साथ संघविद्या की महत्ता का भी उन्हें बोध हुआ। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस आदि नेताओं ने कांग्रेस के नेतृत्व में देया को संगठित किया। परिणामस्वरूप, भारत अंग्रेजों जैसे प्रबल शत्रु को भी मात दे कर स्वतन्त्र हो सका। मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ होने के पश्चात् से इतिहास में एक भी दिन ऐसा नहीं आया कि सम्पूर्ण भारत भूमि स्वतन्त्र हुई हो। दुर्भाग्य की बात है कि आज भी वही स्थिति है। परन्तु भारत भूमि का जितना बड़ा खण्ड आज स्वतन्त्र है उतना भी इसके पूर्व कभी स्वतन्त्र न हो सका था और आज के बराबर संगठित तो कभी नहीं रहा। कांग्रेस के संगठित जीवन में मुस्लिम लीग ने स्थायी दरार डाल दी और अन्त में इसका विस्फोट भारत के खण्डन में हुआ। भारत की जनशक्ति को खण्ड-विखण्ड करने का कार्य साम्यवादी करता था और आज भी उसकी यह विध्वंसक वृत्ति यथापूर्व बनी हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी तत्त्वज्ञान की ओट में वे रूस-चीन का समर्थन करते हैं। साम्यवादियों की ऐसी धारणा थी कि भारत में मजदूरों का राज रूसी साम्राज्य के साथ ही आवेगा। मुस्लिम लीग को जिस प्रकार अंग्रेजों का पृष्ठपाषण प्राप्त था- उस प्रकार प्रत्यक्ष रूसी समर्थन साम्यवादियों को मिला नहीं, इस कारण भारत और खण्डित होने से बचा हुआ है।

पन्द्रह अगस्त 1947 के पश्चात् के कालखण्ड का निरीक्षण करें तो दिखाई देगा कि आज भी यह खतरा टला नहीं है। भारत और अधिक खण्डित होने की सम्भावना है। संघनिष्ठा अभी भारतीयों के रोम-रोम में रमी नहीं है। केवल मुस्लिम लीग अथवा साम्यवादी दल-इस खतरे की जड़ नहीं हैं। एक ओर स्वार्थपरायणता, भ्रष्टाचरिता, व्यक्तिवाद तथा दलबन्दी की दल-दल, संघशक्ति को भीतर से खोखला बना रही है और बाहर भागवत धर्म के परमोदार तत्त्वों का परिपोष करने की अपनी प्रवृत्ति है। इसके कारण ही पुनः संकट घिर आवेंगे, इस बात का भय है।

सामान्य नागरिक भी आज अनुभव कर रहा है कि संघनिष्ठा का हास हो रहा है। भारत में कांग्रेस ही एक दृढ़ संगठन था, परन्तु आज वह टूट रहा है। अज कांग्रेसी 'ध्येयवादिता, त्याग, और राष्ट्रसेवा की भावना से हीन हो चुका है। ईर्ष्या, द्वेष, व्यक्तिगत स्वार्थ, धन-लोभ, धनिकों की चापलूसी, हिंसा, असत्य, ढोंगीपन और सत्तालोभ व मदांधता ने इसे जर्जर कर दिया है। और यह सम्पूर्ण राष्ट्र की चर्चा का विषय बन चुका है। तहसील, जिला तथा प्रान्तीय कांग्रेस के आपसी संघर्ष की कथाएँ पढ़ते समय-रु राजपूत और सिखों के इतिहास की स्मृतियाँ जाग उठती हैं।' बाहरी शत्रु का मुझे डर नहीं है। यदि पुनः हम पराधीन हुए तो आन्तरिक फूट और संघर्ष के कारण ही होंगं। और इनका ही मुझे भय है।' सरदार पटेल के उद्गार- कहीं वास्तविकता न बन जायें- इस आशंका से अन्तःकरण हिल उठता है। कांग्रेस का संगठन नष्ट हो रहा है, यह तो दुर्भाग्य की बात है ही, पर इससे भी अधिक दुर्भाग्य तो यह है कि आज एक भी ऐसा विरोधी दल देश में नहीं है जो इस संघशक्ति का सृजन करने की क्षमता रखता हो। समाजवादी तत्त्वज्ञान की आधारशिला पर खड़े दल रोज ही बनते हैं और बिगड़ते हैं। समाजवादी, कांग्रेस समाजवादी, संयुक्त समाजवादी, प्रजा समाजवादी अनेक ऐसे उनके वंशज हैं और उनके आपसी सम्बन्ध जयपुर, जोधपुर, मेवाड़, अजमेर अरदि राजवंशों के समान ही निकट के हैं (कलहपूर्ण हैं)। हिन्दुत्व-निष्ठा दलों की राम कहानी इससे भिन्न नहीं है। किसान और मजदूरों से नई चेतना जागी है- मजदूर विश्वक्रान्ति का अग्रदूत है- ऐसा कहा जाता है। परन्तु भारत में साम्यवादी, समाजवादी तथा सत्तारुढ़ दल की अंगुली पकड़कर चलने वाले अनेक मजदूर संगठन हैं।

इस प्रकार की परिस्थिति में आचार्य विनोबा का भूदान आन्दोलन 'परम उदात्त' भागवत-धर्मीय तत्त्वों का प्रचार कर रहा है। सेवावृत्ति, त्याग-भावना, अहिंसा आदि दैवी गुण इस आन्दोलन के आधार हैं। परन्तु भूदान आन्दोलन भूमि के पुनः वितरण तक ही सीमित नहीं है। वह तो एक जीवन-दर्शन है। सर्वोदयवाद 'जय-जगत्' का उपदेशक है। सर्वोदयवाद में 'संघशक्ति' को पूर्ण रूप में त्याज्य बताया गया है। अभी-अभी कुछ दिन पूर्व 'भूदान' हेतु निर्मित संगठन को भी विनोबा जी विसर्जित कर चुके हैं। उनके विचार में संघबल तो जड़-बल है और इसी कारण उसके द्वारा ध्येय को प्राप्त करना साधना-शुचिता की दृष्टि से हेय है। निःशस्त्रीकरण एवं विसैन्यीकरण का विचार आज संसार में प्रचलित है। प्रत्येक देश अपने शस्त्रास्त्रों में की संख्या घटावे, सेना कम करे, ऐसा विचार प्रकट किया जाता है- परन्तु एक भी देश ऐसा करने के लिए राजी नहीं है। विनोबा जी कहते हैं कि 'भारत को अपनी सेना व शस्त्रास्त्रों में कमी कर दुनियाँ के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। अतः सर्वोदयवाद भागवतधर्मीय तत्त्वज्ञान है- जिसकी निष्ठा है कि संघबल, सामर्थ्य का सहारा लेना अनुचित है। गांधी जी के विचार भी मूलतः ऐसे ही थे। केवल कांग्रेस संगठन को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किये। पूंजीपतियों की सहायता ली- कश्मीर में सेना भेजने का समर्थन किया और गोलीवर्षा को भी उचित ठहराया- ये बातें दर्शाती हैं कि महात्मा जी महाभारतकार की इस राय से सहमत थे कि श्रेष्ठ भागवतधर्म संघशक्ति के आश्रय से ही टिक

सकता है। महात्मा जी इस बात को मानते थे , इस बात का भरासा दिलाना कठिन है। भगवान् तिलक के सम्बन्ध में अपने लेख में महात्मा जी लिखते हैं- “तिलक जी का मत था कि स्वतन्त्रता के लिए यदि सत्य और अहिंसा का अल्पकाल तक परित्याग करना पड़े तो वह करना चाहिए.....परन्तु स्वतन्त्रता के लिए भी मैं सत्य और अहिंसा का परित्याग नहीं करूँगा।” व्यक्तिगत सत्याग्रह उनकी श्रद्धा का विषय था और उसके पालन में साधन-शुचिता को वे अनिवार्य मानते थे। कुछ लोग कह सकते हैं कि “सत्यधर्म ही विजय का मार्ग है।” ऐसा गांधी जी मानते थे- मैं इसे नहीं मानता। परन्तु सर्वोदयवादी गांधी जी के इन वचनों का आश्रय अपने तर्कों को प्रभावी बनाने के लिए लेते हैं।

गांधीवाद के प्रवक्ता- आचार्य जावडेकर का कथन है कि यूरोप के देश अर्थ एवं काम के दास बन चुके हैं, इस कारण नई संस्कृति व नये संसार का निर्माण नहीं कर सकते। सच्ची अध्यात्म-निष्ठा केवल भारत में ही पनप रही है। ‘शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए। दुष्टों की दुष्टता को भी क्षमा करना चाहिए, अन्यायी का साथ नहीं देना चाहिए, अहिंसा के मार्ग से जगत् में कान्ति लानी चाहिए, सत्य के द्वारा असत्य पर विजय प्राप्त करना चाहिए और इनकी प्राप्ति के लिए अद्वेष-भाव से आत्मोत्सर्ग करना चाहिए, आदि आदर्श वर्तमान भारत में प्रचलित हैं। इन महात्माओं का भारतीयों को ऐसे श्रेष्ठ आदर्श का उपदेश देना उचित है। परन्तु आदर्शों का आचरण करने के लिए भारत का सामाजिक जीवन सुसंगठित होना चाहिए। भारत के नागरिक संघनिष्ठा में इंग्लैण्ड के नागरिकों की समता रखने वाले होना चाहिए अथवा उनसे थोड़े बढ़े-चढ़े हों। यदि इन आदर्शों की सत्यता एवं दिव्यता अपने को विजयी बनावेगी, इस स्वप्न लोक में हम रहें तो, संसार को धर्म- प्रधान संस्कृति के पाठ पढ़ाने के स्थान पर पुनश्च परतन्त्रता का नारकीय जीवन बिताने का प्रसंग देखना पड़ेगा। गांधी एवं विनाबा-प्रणीत ‘विश्वधर्म’ के स्वर्गिक फल चखने की यदि लालसा मन में हो तो उस धर्म का रक्षण करने में समर्थ एवं सुदृढ़ संगठन का निर्माण करना चाहिए। “विश्व-धर्म-संस्थापक बनने की महत्त्वाकांक्षा को मन में संजोने का हमें तब तक अधिकार नहीं है, जब तक कि हम ऐसे संगठित राष्ट्र की छोटी परिधि में ही क्यों न हो पर सत्य, स्नेह, अद्रोह का आचरण करना प्रत्येक घटक का स्वभाव नहीं बन जाता।

अपना बड़ा सौभाग्य है कि विनोबा और गांधी जी जैसे महापुरुष अपने देश में पैदा हुए। वे विश्वव्यापी एवं उदात्त धर्म-जीवन का उपदेश दे गये। उनके द्वारा प्रणीत उस धर्म की रक्षा के लिए संघशक्ति अनिवार्य है। हम उसकी उपासना नहीं करते। संघशक्ति की उपेक्षा ही अपनी पराजय का कारण है। संत ज्ञानेश्वर ने मानव धर्म का उपदेश किया। हमने उसके सम्मान की रक्षा कैसे की? तत्कालीन महाराष्ट्र के शासक नादान थे। दक्षिणापथ के अन्य शासकों का भी सही हाल था। केवल एक मुसलमान सेनापति दस-बारह वर्ष की अल्पावधि में सम्पूर्ण दक्षिण भारत को पादाक्रान्त कर डाले- यह किस बात का द्योतक है? उसके पश्चात् ही लूटमार, बलात्कार, नरहत्या और विध्वंस का युग प्रारम्भ हुआ। और उसका प्रतिकार करना महाराष्ट्र के लिए असम्भव हो गया। ज्ञानेश्वर के उदात्त मानवधर्म में यदि ऐहिक

शक्ति-निर्माण का सामर्थ्य होता तो ढाई सौ वर्ष बाद यवन संत एकनाथ की छाती पर एक सौ आठ बार थूकने की हिम्मत न करता। 'उसकी पशुता का सह लेना' संत एकनाथ के लिए शोभा दे सकता है, परन्तु जिस समाज ने इस प्रसंग को खुली आँखों देखा- उसके कर्तव्यशून्य, स्वाभिमानशून्य, निर्बल जीवन का वर्णन किन शब्दों में किया जावे? अतः यह स्वतः सिद्ध है कि 'अद्वेष, अक्रोध, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय' आदि उदात्त तत्त्वों का उपदेश करने वाला भागवतधर्म समाजरक्षा में श्री, विजय, भूति के सम्पादन में असमर्थ है। समर्थ रामदास और विद्यारण्य स्वामी प्रणीत 'संघधर्म' के अभाव में भागवत धर्म के तत्त्वों का अस्तित्व शून्यवत् है- अपितु वे समाज के लिए हानिकर सिद्ध होते हैं। यदि आज 'संसार के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करने के व सेना विघटित करने के सिद्धान्त को अपनाया, संघबल को पाशवी बल बताकर उसकी उपेक्षा की, स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भी सत्य और अहिंसा का परित्याग न करने के सिद्धान्त पर डटे रहे , तो भारत नष्ट हो जाएगा । इस बात को भारत वासी अच्छी तरह समझ लें । उन्हें इसे सदा याद रखना होगा ।

भागवत धर्म, बुद्धधर्म, मानवधर्म, विश्वधर्म पर भारतीय जन मन मुग्ध है । पर इन धर्मों का आचरण के लिए जिस राजविद्या की उपासना करना अनिवार्य है , उसकी उसने सदा ही अक्षम्य उपेक्षा की है । गत साठ सत्तर वर्षों की अवधि में राष्ट्रनिष्ठा के व्रत को अंगीकार कर हमने एक महान क्रान्ति की । मन में ऐसा संदेह होता है कि अपनी स्वाभाविक दुर्बलता आज फिर सिर उठा रही है । यदि ऐसा हुआ तो पुनः एक बार बीती हुई सहस्राब्दी का इतिहास दुहराया जाएगा ।